

नारदगीता

[महाभारतके शान्तिपर्वमें तीन अध्यायवाली नारदगीता प्राप्त होती है। इसमें देवर्षि नारदद्वारा श्रीशुकदेवजीको ज्ञान तथा वैराग्यका उपदेश दिया गया है तथा इसी क्रममें सदाचारकी प्रेरणा देते हुए धैर्य तथा अनासक्तिपर विशेष बल दिया गया है। तदनन्तर मनुष्यको प्रारब्धानुसार प्राप्त सुख-दुःख आदिका वर्णन है। प्रारब्ध स्वयं उसीके पूर्वकृत कर्मोंके परिणामस्वरूप बनता है तथा मनुष्य परवश-सा होकर उन्हें भोगनेको विवश होता है। अतः अहंबुद्धिका सर्वथा त्याग करके, बन्धनमुक्त हो सनातन-पदको प्राप्त करना चाहिये। यही तथ्य इस गीतामें बहुत रोचक ढंगसे बताया गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सुबोध, दृष्टान्त अत्यन्त रोचक तथा उपदेश सभीके लिये उपयोगी है। सहज बोधगम्य इस नारदगीताको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

पहला अध्याय

शुकदेवजीको नारदजीद्वारा वैराग्य और ज्ञानका उपदेश देना

भीष्म उवाच

एतस्मिन्नन्तरे शून्ये नारदः समुपागमत्।
शुकं स्वाध्यायनिरतं वेदार्थान् वक्तुमीप्सितान् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! व्यासजीके चले जानेके बाद उस सूने आश्रममें स्वाध्यायपरायण शुकदेवसे अपना इच्छित वेदोंका अर्थ कहनेके लिये देवर्षि नारदजी पधारे ॥ १ ॥

देवर्षि तु शुको दृष्ट्वा नारदं समुपस्थितम्।
अर्घ्यपूर्वेण विधिना वेदोक्तेनाभ्यपूजयत् ॥ २ ॥

देवर्षि नारदको उपस्थित देखकर शुकदेवने वेदोक्त विधिसे अर्घ्य



शुकदेवजीको नारदजीका उपदेश

आदि निवेदन करके उनका पूजन किया ॥ २ ॥

नारदोऽथाब्रवीत् प्रीतो ब्रूहि धर्मभृतां वर।

केन त्वां श्रेयसा वत्स योजयामीति हृष्टवत् ॥ ३ ॥

उस समय नारदजीने प्रसन्न होकर कहा—‘वत्स! तुम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हो। बताओ, तुम्हें किस श्रेष्ठ वस्तुकी प्राप्ति कराऊँ?’ यह बात उन्होंने बड़े हर्षके साथ कही ॥ ३ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः प्रोवाच भारत।

अस्मिँल्लोके हितं यत् स्यात् तेन मां योक्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

भरतनन्दन! नारदजीकी यह बात सुनकर शुकदेवने कहा—‘इस लोकमें जो परम कल्याणका साधन हो, उसीका मुझे उपदेश देनेकी कृपा करें’ ॥ ४ ॥

नारद उवाच

तत्त्वं जिज्ञासतां पूर्वमृषीणां भावितात्मनाम्।

सनत्कुमारो भगवानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—वत्स! पूर्वकालकी बात है, पवित्र अन्तःकरणवाले ऋषियोंने तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रश्न किया। उसके उत्तरमें भगवान् सनत्कुमारने यह उपदेश दिया ॥ ५ ॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।

नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥ ६ ॥

विद्याके समान कोई नेत्र नहीं है। सत्यके समान कोई तप नहीं है। रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके सदृश कोई सुख नहीं है ॥ ६ ॥

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता।

सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम् ॥ ७ ॥

पापकर्मोंसे दूर रहना, सदा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करना, श्रेष्ठ

पुरुषोंके-से बर्ताव और सदाचारका पालन करना—यही सर्वोत्तम श्रेय (कल्याण)—का साधन है ॥ ७ ॥

मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति।
नालं स दुःखमोक्षाय संयोगो दुःखलक्षणम् ॥ ८ ॥

जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे इस मानव-शरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहको प्राप्त होता है। विषयोंका संयोग दुःखरूप ही है, अतः दुःखोंसे छुटकारा नहीं दिला सकता ॥ ८ ॥

सक्तस्य बुद्धिश्चलति मोहजालविवर्धनी।
मोहजालावृतो दुःखमिह चामुत्र सोऽश्नुते ॥ ९ ॥

विषयासक्त पुरुषकी बुद्धि चंचल होती है। वह मोहजालको बढ़ानेवाली है, मोहजालसे बँधा हुआ पुरुष इस लोक तथा परलोकमें दुःख ही भोगता है ॥ ९ ॥

सर्वोपायात् तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
कार्यः श्रेयोऽर्थिना तौ हि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ ॥ १० ॥

जिसे कल्याणप्राप्तिकी इच्छा हो, उसे सभी उपायोंसे काम और क्रोधको दबाना चाहिये; क्योंकि ये दोनों दोष कल्याणका नाश करनेके लिये उद्यत रहते हैं ॥ १० ॥

नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानावमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ॥ ११ ॥

मनुष्यको चाहिये कि सदा तपको क्रोधसे, लक्ष्मीको डाहसे, विद्याको मानापमानसे और अपने-आपको प्रमादसे बचाये ॥ ११ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं न सत्याद् विद्यते परम् ॥ १२ ॥

क्रूर स्वभावका परित्याग सबसे बड़ा धर्म है। क्षमा सबसे बड़ा बल है। आत्माका ज्ञान ही सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है और सत्यसे बढ़कर

तो कुछ है ही नहीं ॥ १२ ॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।

यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम ॥ १३ ॥

सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ है; परंतु सत्यसे भी श्रेष्ठ है हितकारक वचन बोलना। जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, वही मेरे विचारसे सत्य है ॥ १३ ॥

सर्वारम्भपरित्यागी

निराशीर्निष्परिग्रहः।

येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः ॥ १४ ॥

जो कार्य आरम्भ करनेके सभी संकल्पोंको छोड़ चुका है, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता तथा जिसने सब कुछ त्याग दिया है, वही विद्वान् है और वही पण्डित ॥ १४ ॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थान्

यश्चरत्यात्मवशैरिह।

असज्जमानः शान्तात्मा निर्विकारः समाहितः ॥ १५ ॥

आत्मभूतैरतद्भूतः सह चैव विनैव च।

स विमुक्तः परं श्रेयो नचिरेणाधितिष्ठति ॥ १६ ॥

जो अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा यहाँ अनासक्त-भावसे विषयोंका अनुभव करता है, जिसका चित्त शान्त, निर्विकार और एकाग्र है तथा जो आत्मस्वरूप प्रतीत होनेवाले देह और इन्द्रियाँ हैं, उनके साथ रहकर भी उनसे तद्रूप न हो अलग-सा ही रहता है, वह मुक्त है और उसे बहुत शीघ्र परम कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ १५-१६ ॥

अदर्शनमसंस्पर्शस्तथासम्भाषणं

सदा।

यस्य भूतैः सह मुने स श्रेयो विन्दते परम् ॥ १७ ॥

मुने! जिसकी किसी प्राणीकी ओर दृष्टि नहीं जाती, जो किसीका स्पर्श तथा किसीसे बातचीत नहीं करता, वह परम कल्याणको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदं जन्म समासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ १८ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे। सबके प्रति मित्रभाव रखते हुए विचरे तथा यह मनुष्य-जन्म पाकर किसीके साथ वैर न करे ॥ १८ ॥

आकिञ्चन्यं सुसन्तोषो निराशीस्त्वमचापलम् ।
एतदाहुः परं श्रेय आत्मज्ञस्य जितात्मनः ॥ १९ ॥

जो आत्मतत्त्वका ज्ञाता तथा मनको वशमें रखनेवाला है, उसके लिये यही परम कल्याणका साधन बताया गया है कि वह किसी वस्तुका संग्रह न करे, सन्तोष रखे तथा कामना और चंचलताको त्याग दे ॥ १९ ॥

परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः ।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम् ॥ २० ॥

तात शुकदेव! तुम संग्रहका त्याग करके जितेन्द्रिय हो जाओ तथा उस पदको प्राप्त करो, जो इस लोक और परलोकमें भी निर्भय एवं सर्वथा शोकरहित है ॥ २० ॥

निरामिषा न शोचन्ति त्यजेदामिषमात्मनः ।
परित्यज्यामिषं सौम्य दुःखतापाद् विमोक्ष्यसे ॥ २१ ॥

जिन्होंने भोगोंका परित्याग कर दिया है, वे कभी शोकमें नहीं पड़ते, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको भोगासक्तिका त्याग करना चाहिये। सौम्य! भोगोंका त्याग कर देनेपर तुम दुःख और सन्तापसे छूट जाओगे ॥ २१ ॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ २२ ॥

जो अजित (परमात्मा)-को जीतनेकी इच्छा रखता हो, उसे तपस्वी, जितेन्द्रिय, मननशील, संयतचित्त और विषयोंमें अनासक्त रहना चाहिये ॥ २२ ॥

गुणसङ्गेष्वनासक्त एकचर्यारतः सदा ।
ब्राह्मणो नचिरादेव सुखमायात्यनुत्तमम् ॥ २३ ॥

जो ब्राह्मण त्रिगुणात्मक विषयोंमें आसक्त न होकर सदा एकान्तवास करता है, वह शीघ्र ही सर्वोत्तम सुखरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ २३ ॥

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु य एको रमते मुनिः ।
विद्धि प्रज्ञानतृप्तं तं ज्ञानतृप्तो न शोचति ॥ २४ ॥

जो मुनि मैथुनमें सुख माननेवाले प्राणियोंके बीचमें रहकर भी अकेले रहनेमें ही आनन्द मानता है, उसे विज्ञानसे परितृप्त समझना चाहिये। जो ज्ञानसे तृप्त होता है, वह कभी शोक नहीं करता ॥ २४ ॥

शुभैर्लभति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम् ।
अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः ॥ २५ ॥

जीव सदा कर्मोंके अधीन रहता है। वह शुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे देवता होता है, दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्य-जन्म पाता है और केवल अशुभ कर्मोंसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म लेता है ॥ २५ ॥

तत्र मृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यते जन्तुस्तत्कथं नावबुद्ध्यसे ॥ २६ ॥

उन-उन योनियोंमें जीवको सदा जरा-मृत्यु और नाना प्रकारके दुःखोंसे सन्तप्त होना पड़ता है। इस प्रकार संसारमें जन्म लेनेवाला प्रत्येक प्राणी सन्तापकी आगमें पकाया जाता है—इस बातकी ओर तुम क्यों नहीं ध्यान देते ? ॥ २६ ॥

अहिते हितसंज्ञस्त्वमध्रुवे ध्रुवसंज्ञकः ।
अनर्थे चार्थसंज्ञस्त्वं किमर्थं नावबुद्ध्यसे ॥ २७ ॥

तुमने अहितमें ही हित-बुद्धि कर ली है, जो अध्रुव (विनाशशील) वस्तुएँ हैं, उन्हींको 'ध्रुव' (अविनाशी) नाम दे रखा है और अनर्थमें ही तुम्हें अर्थका बोध हो रहा है। यह बात तुम्हारी समझमें क्यों नहीं आती है ? ॥ २७ ॥

संवेष्ट्यमानं बहुभिर्मोहात् तन्तुभिरात्मजैः ।

कोषकार इवात्मानं वेष्टयन् नावबुध्यसे ॥ २८ ॥

जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही शरीरसे उत्पन्न हुए तन्तुओंद्वारा अपने-आपको आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार तुम भी मोहवश अपनेहीसे उत्पन्न सम्बन्धके बन्धनोंद्वारा अपने-आपको बाँधते जा रहे हो तो भी यह बात तुम्हारी समझमें नहीं आ रही है ॥ २८ ॥

अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः ।

कृमिर्हि कोषकारस्तु बध्यते स परिग्रहात् ॥ २९ ॥

यहाँ विभिन्न वस्तुओंके संग्रहकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि संग्रहसे महान् दोष प्रकट होता है। रेशमका कीड़ा अपने संग्रह-दोषके कारण ही बन्धनमें पड़ता है ॥ २९ ॥

पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।

सरःपङ्कगार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ ३० ॥

स्त्री-पुत्र और कुटुम्बमें आसक्त रहनेवाले प्राणी उसी प्रकार कष्ट पाते हैं, जैसे जंगलके बूढ़े हाथी तालाबके दलदलमें फँसकर दुःख उठाते हैं ॥ ३० ॥

महाजालसमाकृष्टान् स्थले मत्स्यानिवोद्धृतान् ।

स्नेहजालसमाकृष्टान् पश्य जन्तून् सुदुःखितान् ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार महान् जालमें फँसकर पानीसे बाहर आये हुए मत्स्य तड़पते हैं, उसी प्रकार स्नेहजालसे आकृष्ट होकर अत्यन्त कष्ट उठाते हुए इन प्राणियोंकी ओर दृष्टिपात करो ॥ ३१ ॥

कुटुम्बं पुत्रदारांश्च शरीरं सञ्चयाश्च ये ।

पारव्यमध्रुवं सर्वं किं स्वं सुकृतदुष्कृतम् ॥ ३२ ॥

संसारमें कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, शरीर और संग्रह—सब कुछ पराया है। सब नाशवान् है। इसमें अपना क्या है, केवल पाप और पुण्य ॥ ३२ ॥

यदा सर्वं परित्यज्य गन्तव्यमवशेन ते।
अनर्थे किं प्रसक्तस्त्वं स्वमर्थं नानुतिष्ठसि ॥ ३३ ॥

जब सब कुछ छोड़कर तुम्हें यहाँसे विवश होकर चल देना है, तब इस अनर्थमय जगत्में क्यों आसक्त हो रहे हो? अपने वास्तविक अर्थ—मोक्षका साधन क्यों नहीं करते हो? ॥ ३३ ॥

अविश्रान्तमनालम्बमपाथेयमदैशिकम् ।
तमःकान्तारमध्वानं कथमेको गमिष्यसि ॥ ३४ ॥

जहाँ ठहरनेके लिये कोई स्थान नहीं, कोई सहारा देनेवाला नहीं, राहखर्च नहीं तथा अपने देशका कोई साथी अथवा राह बतानेवाला नहीं है, जो अन्धकारसे व्याप्त और दुर्गम है, उस मार्गपर तुम अकेले कैसे चल सकोगे? ॥ ३४ ॥

न हि त्वां प्रस्थितं कश्चित् पृष्ठतोऽनुगमिष्यति।
सुकृतं दुष्कृतं च त्वां यास्यन्तमनुयास्यति ॥ ३५ ॥

जब तुम परलोककी राह लोगे, उस समय तुम्हारे पीछे कोई नहीं जायगा। केवल तुम्हारा किया हुआ पुण्य या पाप ही वहाँ जाते समय तुम्हारा अनुसरण करेगा ॥ ३५ ॥

विद्या कर्म च शौचं च ज्ञानं च बहुविस्तरम्।
अर्थार्थमनुसार्यन्ते सिद्धार्थश्च विमुच्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ (परमात्मा)—की प्राप्तिके लिये ही विद्या, कर्म, पवित्रता और अत्यन्त विस्तृत ज्ञानका सहारा लिया जाता है। जब कार्यकी सिद्धि (परमात्माकी प्राप्ति) हो जाती है, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः।
छित्तवैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥ ३७ ॥

गाँवोंमें रहनेवाले मनुष्यकी विषयोंके प्रति जो आसक्ति होती है, वह उसे बाँधनेवाली रस्सीके समान है। पुण्यात्मा पुरुष उसे काटकर

आगे—परमार्थके पथपर बढ़ जाते हैं; किंतु जो पापी हैं, वे उसे नहीं काट पाते ॥ ३७ ॥

रूपकूलां मनःस्रोतां स्पर्शद्वीपां रसावहाम् ।
 गन्धपङ्कां शब्दजलां स्वर्गमार्गदुरावहाम् ॥ ३८ ॥
 क्षमारित्रां सत्यमयीं धर्मस्थैर्यवटारकाम् ।
 त्यागवाताध्वगां शीघ्रां नौतार्या तां नदीं तरेत् ॥ ३९ ॥

यह संसार एक नदीके समान है, जिसका उपादान या उद्गम सत्य है, रूप इसका किनारा, मन स्रोत, स्पर्श द्वीप और रस ही प्रवाह है, गन्ध उस नदीका कीचड़, शब्द जल और स्वर्गरूपी दुर्गम घाट है। शरीररूपी नौकाकी सहायतासे उसे पार किया जा सकता है। क्षमा इसको खेनेवाली लग्गी और धर्म इसको स्थिर करनेवाली रस्सी (लंगर) है। यदि त्यागरूपी अनुकूल पवनका सहारा मिले तो इस शीघ्रगामिनी नदीको पार किया जा सकता है। इसे पार करनेका अवश्य प्रयत्न करे ॥ ३८-३९ ॥

त्यज धर्ममधर्मं च तथा सत्यानृते त्यज ।
 उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ ४० ॥

धर्म और अधर्मको छोड़ो। सत्य और असत्यको भी त्याग दो और उन दोनोंका त्याग करके जिसके द्वारा त्याग करते हो, उसको भी त्याग दो ॥ ४० ॥

त्यज धर्ममसङ्कल्पादधर्मं चाप्यलिप्सया ।
 उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात् ॥ ४१ ॥

संकल्पके त्यागद्वारा धर्मको और लिप्साके अभावद्वारा अधर्मको भी त्याग दो। फिर बुद्धिके द्वारा सत्य और असत्यका त्याग करके परमतत्त्वके निश्चयद्वारा बुद्धिको भी त्याग दो ॥ ४१ ॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
 चर्मावनद्धं दुर्गन्धिं पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ४२ ॥
 जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
 रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ॥ ४३ ॥

यह शरीर पंचभूतोंका घर है। इसमें हड्डियोंके खंभे लगे हैं। यह नस-
 नाडियोंसे बँधा हुआ, रक्त-मांससे लिपा हुआ और चमड़ेसे मढ़ा हुआ है।
 इसमें मल-मूत्र भरा है, जिससे दुर्गन्ध आती रहती है। यह बुढ़ापा और
 शोकसे व्याप्त, रोगोंका घर, दुःखरूप, रजोगुणरूपी धूलसे ढका हुआ और
 अनित्य है; अतः तुम्हें इसकी आसक्तिको त्याग देना चाहिये ॥ ४२-४३ ॥

इदं विश्वं जगत् सर्वमजगच्चापि यद् भवेत् ।
 महाभूतात्मकं सर्वं महद् यत् परमाश्रयात् ॥ ४४ ॥
 इन्द्रियाणि च पञ्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।
 इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ॥ ४५ ॥

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् पंचमहाभूतोंसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये
 महाभूतस्वरूप ही है। जो शरीरसे परे है, वह महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि, पाँच
 इन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म महाभूत अर्थात् तन्मात्राएँ, पाँच प्राण तथा सत्त्व आदि
 गुण—इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायका नाम अव्यक्त है ॥ ४४-४५ ॥

सर्वैरिहेन्द्रियार्थैश्च व्यक्ताव्यक्तैर्हि संहितः ।
 चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गणः ॥ ४६ ॥

इनके साथ ही इन्द्रियोंके पाँच विषय अर्थात् स्पर्श, शब्द, रूप,
 रस और गन्ध एवं मन और अहंकार—इन सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्तको
 मिलानेसे चौबीस तत्त्वोंका समूह होता है, उसे व्यक्ताव्यक्तमय समुदाय
 कहा गया है ॥ ४६ ॥

एतैः सर्वैः समायुक्तः पुमानित्यभिधीयते ।
 त्रिवर्गं तु सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥ ४७ ॥

य इदं वेद तत्त्वेन स वेद प्रभवाप्ययौ।

इन सब तत्त्वोंसे जो संयुक्त है, उसे पुरुष कहते हैं। जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम, सुख-दुःख और जीवन-मरणके तत्त्वको ठीक-ठीक समझता है, वही उत्पत्ति और प्रलयके तत्त्वको भी यथार्थरूपसे जानता है ॥ ४७^१ ॥

पारम्पर्येण बोद्धव्यं ज्ञानानां यच्च किञ्चन ॥ ४८ ॥

इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत् तद् व्यक्तमिति स्थितिः।

अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ ४९ ॥

ज्ञानके सम्बन्धमें जितनी बातें हैं, उन्हें परम्परासे जानना चाहिये। जो पदार्थ इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये जाते हैं, उन्हें व्यक्त कहते हैं और जो इन्द्रियोंके अगोचर होनेके कारण अनुमानसे जाने जाते हैं, उनको अव्यक्त कहते हैं ॥ ४८-४९ ॥

इन्द्रियैर्नियतैर्देही धाराभिरिव तर्प्यते।

लोके विततमात्मानं लोकांश्चात्मनि पश्यति ॥ ५० ॥

जिनकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, वे जीव उसी प्रकार तृप्त हो जाते हैं, जैसे वर्षाकी धारासे प्यासा मनुष्य। ज्ञानी पुरुष अपनेको प्राणियोंमें व्याप्त और प्राणियोंको अपनेमें स्थित देखते हैं ॥ ५० ॥

परावरदृशः शक्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति।

पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ॥ ५१ ॥

सर्वभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते।

उस परावरदर्शी ज्ञानी पुरुषकी ज्ञानमूलक शक्ति कभी नष्ट नहीं होती। जो सम्पूर्ण भूतोंको सभी अवस्थाओंमें सदा देखा करता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंके सहवासमें आकर भी कभी अशुभ कर्मोंसे युक्त नहीं होता अर्थात् अशुभ कर्म नहीं करता ॥ ५१^१ ॥

ज्ञानेन विविधान् क्लेशानतिवृत्तस्य मोहजान् ॥ ५२ ॥
लोके बुद्धिप्रकाशेन लोकमार्गो न रिष्यते ।

जो ज्ञानके बलसे मोहजनित नाना प्रकारके क्लेशोंसे पार हो गया है, उसके लिये जगत्में बौद्धिक प्रकाशसे कोई भी लोक-व्यवहारका मार्ग अवरुद्ध नहीं होता ॥ ५२ १/३ ॥

अनादिनिधनं जन्तुमात्मनि स्थितमव्ययम् ॥ ५३ ॥
अकर्तारममूर्तं च भगवानाह तीर्थवित् ।

मोक्षके उपायको जाननेवाले भगवान् नारायण कहते हैं कि आदि-अन्तसे रहित, अविनाशी, अकर्ता और निराकार जीवात्मा इस शरीरमें स्थित है ॥ ५३ १/३ ॥

यो जन्तुः स्वकृतैस्तैस्तैः कर्मभिर्नित्यदुःखितः ॥ ५४ ॥
स दुःखप्रतिघातार्थं हन्ति जन्तूननेकधा ।

जो जीव अपने ही किये हुए विभिन्न कर्मोंके कारण सदा दुःखी रहता है, वही उस दुःखका निवारण करनेके लिये नाना प्रकारके प्राणियोंकी हत्या करता है ॥ ५४ १/३ ॥

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यन्नवं बहु ॥ ५५ ॥
तप्यतेऽथ पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः ।

तदनन्तर वह और भी बहुत-से नये-नये कर्म करता है और जैसे रोगी अपथ्य खाकर दुःख पाता है, उसी प्रकार उस कर्मसे वह अधिकाधिक कष्ट पाता रहता है ॥ ५५ १/३ ॥

अजस्रमेव मोहान्धो दुःखेषु सुखसंज्ञितः ॥ ५६ ॥
बध्यते मथ्यते चैव कर्मभिर्मन्थवत् सदा ।

जो मोहसे अन्धा (विवेकशून्य) हो गया है, वह सदा ही दुःखद भोगोंमें ही सुखबुद्धि कर लेता है और मथानीकी भाँति कर्मोंसे बँधता एवं मथा जाता है ॥ ५६ १/३ ॥

ततो निबद्धः स्वां योनिं कर्मणामुदयादिह ॥ ५७ ॥

परिभ्रमति संसारं चक्रवद् बहुवेदनः ।

फिर प्रारब्ध कर्मोंके उदय होनेपर वह बद्ध प्राणी कर्मके अनुसार जन्म पाकर संसारमें नाना प्रकारके दुःख भोगता हुआ उसमें चक्रकी भाँति घूमता रहता है ॥ ५७ १/२ ॥

स त्वं निवृत्तबन्धस्तु निवृत्तश्चापि कर्मतः ॥ ५८ ॥

सर्ववित् सर्वजित् सिद्धो भव भावविवर्जितः ।

इसलिये तुम कर्मोंसे निवृत्त, सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त, सर्वज्ञ, सर्वविजयी, सिद्ध और सांसारिक भावनासे रहित हो जाओ ॥ ५८ १/२ ॥

संयमेन नवं बन्धं निवर्त्य तपसो बलात् ।

सम्प्राप्ता बहवः सिद्धिमप्यबाधां सुखोदयाम् ॥ ५९ ॥

बहुत-से ज्ञानी पुरुष संयम और तपस्याके बलसे नवीन बन्धनोंका उच्छेद करके अनन्त सुख देनेवाली अबाध सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं ॥ ५९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारदगीतायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

शुकदेवको नारदजीका सदाचार और

अध्यात्मविषयक उपदेश

नारद उवाच

अशोकं शोकनाशार्थं शास्त्रं शान्तिकरं शिवम् ।

निशम्य लभते बुद्धिं तां लब्ध्वा सुखमेधते ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—शुकदेव! शास्त्र शोकको दूर करनेवाला, शान्तिकारक और कल्याणमय है। जो अपने शोकका नाश करनेके

लिये शास्त्रका श्रवण करता है, वह उत्तम बुद्धि पाकर सुखी हो जाता है ॥ १ ॥

**शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २ ॥**

शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं, जो प्रतिदिन मूढ़ पुरुषोंपर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान्पर नहीं ॥ २ ॥

**तस्मादनिष्टनाशार्थमितिहासं निबोध मे ।
तिष्ठते चेद् वशे बुद्धिर्लभते शोकनाशनम् ॥ ३ ॥**

इसलिये अपने अनिष्टका नाश करनेके लिये मेरा यह उपदेश सुनो— यदि बुद्धि अपने वशमें रहे तो सदाके लिये शोकका नाश हो जाता है ॥ ३ ॥

**अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च ।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते स्वल्पबुद्धयः ॥ ४ ॥**

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुकी प्राप्ति और प्रिय वस्तुका वियोग होनेपर मन-ही-मन दुःखी होते हैं ॥ ४ ॥

**द्रव्येषु समतीतेषु ये गुणास्तान् न चिन्तयेत् ।
न तानाद्रियमाणस्य स्नेहबन्धः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥**

जो वस्तु भूतकालके गर्भमें छिप गयी (नष्ट हो गयी), उसके गुणोंका स्मरण नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो आदरपूर्वक उसके गुणोंका चिन्तन करता है, उसका उसके प्रति आसक्तिका बन्धन नहीं छूटता है ॥ ५ ॥

**दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र रागः प्रवर्तते ।
अनिष्टवर्धितं पश्येत् तथा क्षिप्रं विरज्यते ॥ ६ ॥**

जहाँ चित्तकी आसक्ति बढ़ने लगे, वहीं दोषदृष्टि करनी चाहिये और उसे अनिष्टको बढ़ानेवाला समझना चाहिये। ऐसा करनेपर उससे शीघ्र ही वैराग्य हो जाता है ॥ ६ ॥

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति ।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥ ७ ॥

जो बीती बातके लिये शोक करता है, उसे न तो अर्थकी प्राप्ति होती है, न धर्मकी और न यशकी ही प्राप्ति होती है। वह उसके अभावका अनुभव करके केवल दुःख ही उठाता है। उससे अभाव दूर नहीं होता ॥ ७ ॥

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च ।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥ ८ ॥

सभी प्राणियोंको उत्तम पदार्थोंसे संयोग और वियोग प्राप्त होते रहते हैं। किसी एकपर ही यह शोकका अवसर आता हो, ऐसी बात नहीं है ॥ ८ ॥

मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति ।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थो प्रपद्यते ॥ ९ ॥

जो मनुष्य भूतकालमें मरे हुए किसी व्यक्तिके लिये अथवा नष्ट हुई किसी वस्तुके लिये निरन्तर शोक करता है, वह एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है। इस प्रकार उसे दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं ॥ ९ ॥

नाश्रु कुर्वन्ति ये बुद्ध्या दृष्ट्वा लोकेषु सन्ततिम् ।
सम्यक् प्रपश्यतः सर्व नाश्रुकर्मोपपद्यते ॥ १० ॥

जो मनुष्य संसारमें अपनी सन्तानकी मृत्यु हुई देखकर भी अश्रुपात नहीं करते, वे ही धीरे हैं। सभी वस्तुओंपर समीचीन भावसे दृष्टिपात या विचार करनेपर किसीका भी आँसू बहाना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है ॥ १० ॥

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते ।
यस्मिन् न शक्यते कर्तुं यत्नस्तन्नानुचिन्तयेत् ॥ ११ ॥

यदि कोई शारीरिक या मानसिक दुःख उपस्थित हो जाय और

उसे दूर करनेके लिये कोई यत्न न किया जा सके अथवा किया हुआ यत्न काम न दे सके तो उसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ ११ ॥

**भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ॥ १२ ॥**

दुःख दूर करनेकी सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका बार-बार चिन्तन न किया जाय। चिन्तन करनेसे वह घटता नहीं, बल्कि बढ़ता ही जाता है ॥ १२ ॥

**प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ १३ ॥**

इसलिये मानसिक दुःखको बुद्धिके द्वारा विचारसे और शारीरिक कष्टको औषध-सेवनद्वारा नष्ट करना चाहिये। शास्त्रज्ञानके प्रभावसे ही ऐसा होना सम्भव है। दुःख पड़नेपर बालकोंकी तरह रोना उचित नहीं है ॥ १३ ॥

**अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः ।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ १४ ॥**

रूप, यौवन, जीवन, धन-संग्रह, आरोग्य तथा प्रियजनोंका सहवास—ये सब अनित्य हैं। विद्वान् पुरुषको इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ १४ ॥

**न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति ।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥ १५ ॥**

सारे देशपर आये हुए संकटके लिये किसी एक व्यक्तिको शोक करना उचित नहीं है। यदि उस संकटको टालनेका कोई उपाय दिखलायी दे तो शोक छोड़कर उसे ही करना चाहिये ॥ १५ ॥

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नात्र संशयः ।

स्निग्धत्वं चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥ १६ ॥

इसमें संदेह नहीं कि जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है। किंतु सभीको मोहवश विषयोंके प्रति अनुराग होता है और मृत्यु अप्रिय लगती है ॥ १६ ॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः ।

अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः ॥ १७ ॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंकी ही चिन्ता छोड़ देता है, वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। विद्वान् पुरुष उसके लिये शोक नहीं करते हैं ॥ १७ ॥

त्यज्यन्ते दुःखमर्था हि पालने न च ते सुखाः ।

दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत् ॥ १८ ॥

धन खर्च करते समय बड़ा दुःख होता है। उसकी रक्षामें भी सुख नहीं है और उसकी प्राप्ति भी बड़े कष्टसे होती है, अतः धनको प्रत्येक अवस्थामें दुःखदायक समझकर उसके नष्ट होनेपर चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ १८ ॥

अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः ।

अतृप्ता यान्ति विध्वंसं सन्तोषं यान्ति पण्डिताः ॥ १९ ॥

मनुष्य धनका संग्रह करते-करते पहलेकी अपेक्षा ऊँची धन-सम्पन्न स्थितिको प्राप्त होकर भी कभी तृप्त नहीं होते। वे और अधिककी आशा लिये हुए ही मर जाते हैं; किंतु विद्वान् पुरुष सदा सन्तुष्ट रहते हैं (वे धनकी तृष्णामें नहीं पड़ते) ॥ १९ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।

संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥ २० ॥

संग्रहका अन्त है विनाश। ऊँचे चढ़नेका अन्त है नीचे गिरना।

संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका अन्त है मरण ॥ २० ॥

अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।

तस्मात् सन्तोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः ॥ २१ ॥

तृष्णाका कभी अन्त नहीं होता। सन्तोष ही परम सुख है, अतः पण्डितजन इस लोकमें सन्तोषको ही उत्तम धन समझते हैं ॥ २१ ॥

निमेषमात्रमपि हि वयो गच्छन्न तिष्ठति।

स्वशरीरेष्वनित्येषु नित्यं किमनुचिन्तयेत् ॥ २२ ॥

आयु निरन्तर बीती जा रही है। वह पलभर भी ठहरती नहीं है। जब अपना शरीर ही अनित्य है, तब इस संसारकी किस वस्तुको नित्य समझा जाय ॥ २२ ॥

भूतेषु भावं सञ्चिन्त्य ये बुद्ध्वा मनसः परम्।

न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २३ ॥

जो मनुष्य सब प्राणियोंके भीतर मनसे परे परमात्माकी स्थिति जानकर उन्हींका चिन्तन करते हैं, वे संसार-यात्रा समाप्त होनेपर परमपदका साक्षात्कार करते हुए शोकके पार हो जाते हैं ॥ २३ ॥

सञ्चिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।

व्याघ्रः पशुमिवासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ २४ ॥

जैसे जंगलमें नयी-नयी घासकी खोजमें विचरते हुए अतृप्त पशुको सहसा व्याघ्र आकर दबोच लेता है, उसी प्रकार भोगोंकी खोजमें लगे हुए अतृप्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है ॥ २४ ॥

तथाप्युपायं सम्पश्येद् दुःखस्य परिमोक्षणम्।

अशोचन् नारभेच्चैव मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ॥ २५ ॥

तथापि सबको दुःखसे छूटनेका उपाय अवश्य सोचना चाहिये। जो शोक छोड़कर साधन आरम्भ करता है और किसी व्यसनमें आसक्त नहीं होता, वह निश्चय ही दुःखोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

शब्दे स्पर्शे च रूपे च गन्धेषु च रसेषु च।
नोपभोगात् परं किञ्चिद् धनिनो वाधनस्य च॥ २६ ॥

धनी हो या निर्धन, सबको उपभोगकालमें ही शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध और उत्तम रस आदि विषयोंमें किञ्चित् सुखकी प्रतीति होती है, उपभोगके पश्चात् नहीं॥ २६ ॥

प्राक्सम्प्रयोगाद् भूतानां नास्ति दुःखं परायणम्।
विप्रयोगात् तु सर्वस्य न शोचेत् प्रकृतिस्थितः॥ २७ ॥

प्राणियोंके एक-दूसरेसे संयोग होनेके पहले कोई दुःख नहीं रहता। जब संयोगके बाद वियोग होता है, तभी सबको दुःख हुआ करता है। अतः अपने स्वरूपमें स्थित विवेकी पुरुषको किसीके वियोगमें कभी भी शोक नहीं करना चाहिये॥ २७ ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया॥ २८ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह धैर्यके द्वारा शिश्न और उदरकी, नेत्रके द्वारा हाथ और पैरकी, मनके द्वारा आँख और कानकी तथा सद्विद्याके द्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे॥ २८ ॥

प्रणयं प्रतिसंहत्य संस्तुतेष्वितरेषु च।
विचरेदसमुन्नद्धः स सुखी स च पण्डितः॥ २९ ॥

जो पूजनीय तथा अन्य मनुष्योंमें आसक्तिको हटाकर विनीतभावसे विचरण करता है, वही सुखी और वही विद्वान् है॥ २९ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन यश्चरेत् स सुखी भवेत्॥ ३० ॥

जो अध्यात्मविद्यामें अनुरक्त, कामनाशून्य तथा भोगासक्तिसे दूर है, जो अकेला ही विचरण करता है, वह सुखी होता है॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारदगीतायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥



तीसरा अध्याय

नारदजीका शुकदेवको कर्मफलप्राप्तिमें परतन्त्रता-
विषयक उपदेश तथा शुकदेवजीका सूर्य-
लोकमें जानेका निश्चय

नारद उवाच

सुखदुःखविपर्यासो यदा समनुपद्यते ।

नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नापि पौरुषम् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—शुकदेव! जब मनुष्य सुखको दुःख और दुःखको सुख समझने लगता है, उस समय बुद्धि, उत्तम नीति और पुरुषार्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाते ॥ १ ॥

स्वभावाद् यत्नमातिष्ठेद् यत्नवान् नावसीदति ।

जरामरणरोगेभ्यः प्रियमात्मानमुद्धरेत् ॥ २ ॥

अतः मनुष्यको स्वभावतः ज्ञानप्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये; क्योंकि यत्न करनेवाला पुरुष कभी दुःखमें नहीं पड़ता। आत्मा सबसे बढ़कर प्रिय है; अतः जरा, मृत्यु और रोगोंके कष्टसे उसका उद्धार करे ॥ २ ॥

रुजन्ति हि शरीराणि रोगाः शारीरमानसाः ।

सायका इव तीक्ष्णाग्राः प्रयुक्ता दृढधन्विभिः ॥ ३ ॥

शारीरिक और मानसिक रोग सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले वीर पुरुषोंके छोड़े हुए तीक्ष्ण बाणोंके समान शरीरको पीड़ा देते हैं ॥ ३ ॥

व्यथितस्य विधित्साभिस्ताम्यतो जीवितैषिणः ।

अवशस्य विनाशाय शरीरमपकृष्यते ॥ ४ ॥

तृष्णासे व्यथित, दुःखी एवं विवश होकर जीनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यका शरीर विनाशकी ओर ही खिंचता चला जाता है ॥ ४ ॥

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः ॥ ५ ॥

जैसे नदियोंका प्रवाह आगेकी ओर ही बढ़ता चला जाता है, पीछेकी ओर नहीं लौटता, उसी प्रकार रात और दिन भी मनुष्योंकी आयुका अपहरण करते हुए बारम्बार आते और बीतते चले जाते हैं ॥ ५ ॥

व्यत्ययो ह्ययमत्यन्तं पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ।
जातान् मर्त्याञ्जरयति निमेषान् नावतिष्ठते ॥ ६ ॥

शुक्ल और कृष्ण—दोनों पक्षोंका निरन्तर होनेवाला यह परिवर्तन मनुष्योंको जराजीर्ण कर रहा है। यह कुछ क्षणके लिये भी विश्राम नहीं लेता है ॥ ६ ॥

सुखदुःखानि भूतानामजरो जरयत्यसौ ।
आदित्यो ह्यस्तमभ्येति पुनः पुनरुदेति च ॥ ७ ॥

सूर्य प्रतिदिन अस्त होते और फिर उदय लेते हैं। वे स्वयं अजर होकर भी प्रतिदिन प्राणियोंके सुख और दुःखको जीर्ण करते रहते हैं ॥ ७ ॥

अदृष्टपूर्वानादाय भावानपरिशङ्कितान् ।
इष्टानिष्टान् मनुष्याणामस्तं गच्छन्ति रात्रयः ॥ ८ ॥

ये रात्रियाँ मनुष्योंके लिये कितनी ही अपूर्व तथा असम्भावित प्रिय-अप्रिय घटनाएँ लिये आती और चली जाती हैं ॥ ८ ॥

योऽयमिच्छेद् यथाकामं कामानां तदवाप्नुयात् ।
यदि स्यान्न पराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम् ॥ ९ ॥

यदि जीवके किये हुए कर्मोंका फल पराधीन न होता तो जो जिस वस्तुकी इच्छा करता, वह अपनी उसी कामनाको रुचिके अनुसार प्राप्त कर लेता ॥ ९ ॥

संयताश्च हि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ।
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः ॥ १० ॥

बड़े-बड़े संयमी, बुद्धिमान् और चतुर मनुष्य भी समस्त कर्मोंसे

श्रान्त होकर असफल होते देखे जाते हैं ॥ १० ॥

अपरे बालिशः सन्तो निर्गुणः पुरुषाधमाः ।

आशीर्भिरप्यसंयुक्ता दृश्यन्ते सर्वकामिनः ॥ ११ ॥

किंतु दूसरे मूर्ख, गुणहीन और अधम मनुष्य भी किसीका आशीर्वाद न मिलनेपर भी सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न दिखायी देते हैं ॥ ११ ॥

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ।

वञ्चनायां च लोकस्य स सुखेष्वेव जीर्यते ॥ १२ ॥

कोई-कोई मनुष्य तो सदा प्राणियोंकी हिंसामें ही लगा रहता है और सब लोगोंको धोखा दिया करता है तो भी वह सुख ही भोगते-भोगते बूढ़ा होता है ॥ १२ ॥

अचेष्टमानमासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठते ।

कश्चित् कर्मानुसृत्यान्यो न प्राप्यमधिगच्छति ॥ १३ ॥

कितने ही ऐसे हैं, जो कोई काम न करके चुपचाप बैठे रहते हैं, फिर भी लक्ष्मी उनके पास अपने-आप पहुँच जाती है और कुछ लोग काम करके भी अपनी प्राप्य वस्तुको उपलब्ध नहीं कर पाते ॥ १३ ॥

अपराधं समाचक्ष्व पुरुषस्य स्वभावतः ।

शुक्रमन्यत्र सम्भूतं पुनरन्यत्र गच्छति ॥ १४ ॥

इसमें स्वभावतः पुरुषका ही अपराध (प्रारब्ध-दोष) समझो । वीर्य अन्यत्र उत्पन्न होता है और सन्तानोत्पादनके लिये अन्यत्र जाता है ॥ १४ ॥

तस्य योनौ प्रयुक्तस्य गर्भो भवति वा न वा ।

आम्रपुष्पोपमा यस्य निवृत्तिरुपलभ्यते ॥ १५ ॥

कभी तो वह योनिमें पहुँचकर गर्भ धारण करानेमें समर्थ होता

है और कभी नहीं होता तथा कभी-कभी आमके बौरके समान वह व्यर्थ ही झर जाता है ॥ १५ ॥

**केषाञ्चित् पुत्रकामानामनुसन्तानमिच्छताम् ।
सिद्धौ प्रयतमानानां न चाण्डमुपजायते ॥ १६ ॥**

कुछ लोग पुत्रकी इच्छा रखते हैं और उस पुत्रके भी सन्तान चाहते हैं तथा इसकी सिद्धिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करते हैं तो भी उनके एक अंडा भी उत्पन्न नहीं होता ॥ १६ ॥

**गर्भाच्चोद्विजमानानां क्रुद्धादाशीविषादिव ।
आयुष्माञ्जायते पुत्रः कथं प्रेत इवाभवत् ॥ १७ ॥**

बहुत-से मनुष्य बच्चा पैदा होनेसे उसी तरह डरते हैं, जैसे क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पसे लोग भयभीत रहते हैं, तथापि उनके यहाँ दीर्घजीवी पुत्र उत्पन्न होता है और क्या मजाल कि वह कभी किसी तरह रोग आदिसे मृतकतुल्य हो सके ॥ १७ ॥

**देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ।
दश मासान् परिधृता जायन्ते कुलपांसनाः ॥ १८ ॥**

पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाले दीन स्त्री-पुरुषोंद्वारा देवताओंकी पूजा और तपस्या करके दस मासतक गर्भ धारण किया जाता है, तथापि उनके कुलांगार पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥

**अपरे धनधान्यानि भोगांश्च पितृसञ्चितान् ।
विपुलानभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः ॥ १९ ॥**

तथा बहुत-से ऐसे हैं, जो आमोद-प्रमोदमें ही जन्म धारण करके पिताके सञ्चित किये हुए अपार धनधान्य एवं विपुल भोगोंके अधिकारी होते हैं ॥ १९ ॥

**अन्योन्यं समभिप्रेत्य मैथुनस्य समागमे ।
उपद्रव इवाविष्टो योनिं गर्भः प्रपद्यते ॥ २० ॥**

पति-पत्नीकी पारस्परिक इच्छाके अनुसार मैथुनके लिये जब

उनका समागम होता है, उस समय किसी उपद्रवके समान गर्भ योनिमें प्रवेश करता है ॥ २० ॥

**शीघ्रं परशरीराणि च्छिन्नबीजं शरीरिणम्।
प्राणिनं प्राणसंरोधे मांसश्लेष्मविवेष्टितम् ॥ २१ ॥**

जिसका स्थूल शरीर क्षीण हो गया है तथा जो कफ और मांसमय शरीरसे घिरा हुआ है, उस देहधारी प्राणीको मृत्युके बाद शीघ्र ही दूसरे शरीर उपलब्ध हो जाते हैं ॥ २१ ॥

**निर्दग्धं परदेहेऽपि परदेहं चलाचलम्।
विनश्यन्तं विनाशान्ते नावि नावमिवाहितम् ॥ २२ ॥**

जैसे एक नौकाके भग्न होनेपर उसपर बैठे हुए लोगोंको उतारनेके लिये दूसरी नाव प्रस्तुत रहती है, उसी प्रकार एक शरीरसे मृत्युको प्राप्त होते हुए जीवको लक्ष्य करके मृत्युके बाद उसके कर्मफल-भोगके लिये दूसरा नाशवान् शरीर उपस्थित कर दिया जाता है ॥ २२ ॥

**सङ्गत्या जठरे न्यस्तं रेतोबिन्दुमचेतनम्।
केन यत्नेन जीवन्तं गर्भं त्वमिह पश्यसि ॥ २३ ॥**

शुकदेव! पुरुष स्त्रीके साथ समागम करके उसके उदरमें जिस अचेतन शुक्रबिन्दुको स्थापित करता है, वही गर्भरूपमें परिणत होता है। फिर वह गर्भ किस यत्नसे यहाँ जीवित रहता है, क्या तुम कभी इसपर विचार करते हो? ॥ २३ ॥

**अन्नपानानि जीर्यन्ते यत्र भक्षाश्च भक्षिताः।
तस्मिन्नेवोदरे गर्भः किं नान्नमिव जीर्यते ॥ २४ ॥**

जहाँ खाये हुए अन्न और जल पच जाते हैं तथा सभी तरहके भक्ष्य पदार्थ जीर्ण हो जाते हैं, उसी पेटमें पड़ा हुआ गर्भ अन्नके समान क्यों नहीं पच जाता है? ॥ २४ ॥

गर्भे मूत्रपुरीषाणां स्वभावनियता गतिः ।
 धारणे वा विसर्गे वा न कर्ता विद्यते वशः ॥ २५ ॥
 स्रवन्ति ह्यदराद् गर्भा जायमानास्तथा परे ।
 आगमेन तथान्येषां विनाश उपपद्यते ॥ २६ ॥

गर्भमें मल और मूत्रके धारण करने या त्यागमें कोई स्वभावनियत गति है; किंतु कोई स्वाधीन कर्ता नहीं है। कुछ गर्भ माताके पेटसे गिर जाते हैं, कुछ जन्म लेते हैं और कितनोंकी ही जन्म लेनेके बाद मृत्यु हो जाती है ॥ २५-२६ ॥

एतस्माद् योनिसम्बन्धाद् यो जीवन् परिमुच्यते ।
 प्रजां च लभते काञ्चित् पुनर्द्वन्द्वेषु सज्जति ॥ २७ ॥

इस योनि-सम्बन्धसे कोई सकुशल जीता हुआ बाहर निकल आता है, तब कोई सन्तानको प्राप्त होता है और पुनः परस्परके सम्बन्धमें संलग्न हो जाता है ॥ २७ ॥

स तस्य सहजातस्य सप्तमीं नवमीं दशाम् ।
 प्राप्नुवन्ति ततः पञ्च न भवन्ति गतायुषः ॥ २८ ॥

अनादिकालसे साथ उत्पन्न होनेवाले शरीरके साथ जीवात्मा अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस शरीरकी गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, यौवन, वृद्धत्व, जरा, प्राणरोध और नाश—ये दस दशाएँ होती हैं। इनमेंसे सातवीं और नवीं दशाको भी शरीरगत पाँचों भूत ही प्राप्त होते हैं, आत्मा नहीं। आयु समाप्त होनेपर शरीरकी नवीं दशामें पहुँचनेपर ये पाँच भूत नहीं रहते। अर्थात् दसवीं दशाको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २८ ॥

नाभ्युत्थाने मनुष्याणां योगाः स्युर्नात्र संशयः ।
 व्याधिभिश्च विमथ्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव ॥ २९ ॥

जैसे व्याध छोटे मृगोंको कष्ट पहुँचाते हैं, उसी प्रकार जब नाना

प्रकारके रोग मनुष्योंको मथ डालते हैं, तब उनमें उठने-बैठनेकी भी शक्ति नहीं रह जाती, इसमें संशय नहीं है ॥ २९ ॥

व्याधिभिर्मथ्यमानानां त्यजतां विपुलं धनम् ।

वेदनां नापकर्षन्ति यतमानाश्चिकित्सकाः ॥ ३० ॥

रोगोंसे पीड़ित हुए मनुष्य वैद्योंको बहुत-सा धन देते हैं और वैद्यलोग रोग दूर करनेकी बहुत चेष्टा करते हैं तो भी उन रोगियोंकी पीड़ा दूर नहीं कर पाते हैं ॥ ३० ॥

ते चातिनिपुणा वैद्याः कुशलाः सम्भृतौषधाः ।

व्याधिभिः परिकृष्यन्ते मृगा व्याधैरिवार्दिताः ॥ ३१ ॥

बहुत-सी ओषधियोंका संग्रह करनेवाले चिकित्सामें कुशल चतुर वैद्य भी व्याधोंके मारे हुए मृगोंकी भाँति रोगोंके शिकार हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पीषि विविधानि च ।

दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥ ३२ ॥

बड़े-बड़े हाथी जैसे वृक्षोंको झुका देते हैं, वैसे ही वे तरह-तरहके काढ़े और नाना प्रकारके घी पीते रहते हैं तो भी वृद्धावस्था उनकी कमर टेढ़ी कर देती है; यह देखा जाता है ॥ ३२ ॥

के वा भुवि चिकित्सन्ते रोगार्तान् मृगपक्षिणः ।

श्वापदानि दरिद्रांश्च प्रायो नार्ता भवन्ति ते ॥ ३३ ॥

इस पृथ्वीपर मृग, पक्षी, हिंसक पशु और दरिद्र मनुष्योंको जब रोग सताता है, तब कौन उनकी चिकित्सा करने जाते हैं ? किंतु प्रायः उन्हें रोग होता ही नहीं है ॥ ३३ ॥

घोरानपि दुराधर्षान् नृपतीनुग्रतेजसः ।

आक्रम्याददते रोगाः पशून् पशुगणा इव ॥ ३४ ॥

परन्तु बड़े-बड़े पशु जैसे छोटे पशुओंपर आक्रमण करके उन्हें दबा देते हैं, उसी प्रकार प्रचण्ड तेजवाले, घोर एवं दुर्धर्ष राजाओंपर

भी बहुत-से रोग आक्रमण करके उन्हें अपने वशमें कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् ।
स्त्रोतसा सहसाऽक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार सब लोग भवसागरके प्रबल प्रवाहमें सहसा पड़कर
इधर-उधर बहते हुए मोह और शोकमें डूब रहे हैं और आर्तनादतक
नहीं कर पाते हैं ॥ ३५ ॥

न धनेन न राज्येन नोग्रेण तपसा तथा ।
स्वभावमतिवर्तन्ते ये नियुक्ताः शरीरिणः ॥ ३६ ॥

विधाताके द्वारा कर्मफल-भोगमें नियुक्त हुए देहधारी मनुष्य धन,
राज्य तथा कठोर तपस्याके प्रभावसे प्रकृतिका उल्लंघन नहीं कर
सकते ॥ ३६ ॥

न प्रियेर्न न जीर्येर्न सर्वे स्युः सर्वकामिनः ।
नाप्रियं प्रति पश्येयुरुत्थानस्य फले सति ॥ ३७ ॥

यदि प्रयत्नका फल अपने हाथमें होता तो मनुष्य न तो बूढ़े
होते और न मरते ही । सबकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जातीं और
किसीको अप्रिय नहीं देखना पड़ता ॥ ३७ ॥

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते ।
यतते च यथाशक्ति न च तद् वर्तते तथा ॥ ३८ ॥

सब लोग लोकोंके ऊपर-से-ऊपर स्थानमें जाना चाहते हैं और
यथाशक्ति इसके लिये चेष्टा भी करते हैं; किंतु वैसा करनेमें समर्थ
नहीं होते ॥ ३८ ॥

ऐश्वर्यमदमत्तांश्च मत्तान् मद्यमदेन च ।
अप्रमत्ताः शठाञ्छूरा विक्रान्ताः पर्युपासते ॥ ३९ ॥

प्रमादरहित पराक्रमी शूरवीर भी ऐश्वर्य तथा मदिराके मदसे उन्मत्त
रहनेवाले शठ मनुष्योंकी सेवा करते हैं ॥ ३९ ॥

क्लेशाः परिनिवर्तन्ते केषाञ्चिदसमीक्षिताः ।

स्वं स्वं च पुनरन्येषां न किञ्चिदधिगम्यते ॥ ४० ॥

कितने ही लोगोंके क्लेश ध्यान दिये बिना ही निवृत्त हो जाते हैं तथा दूसरोंको अपने ही धनमेंसे समयपर कुछ भी नहीं मिलता ॥ ४० ॥

महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसन्धिषु ।

वहन्ति शिबिकामन्ये यान्त्यन्ये शिबिकागताः ॥ ४१ ॥

कर्मोंके फलमें भी बड़ी भारी विषमता देखनेमें आती है। कुछ लोग पालकी ढोते हैं और दूसरे लोग उसी पालकीमें बैठकर चलते हैं ॥ ४१ ॥

सर्वेषामृद्धिकामानामन्ये रथपुरःसराः ।

मनुष्याश्च गतस्त्रीकाः शतशो विविधस्त्रियः ॥ ४२ ॥

सभी मनुष्य धन और समृद्धि चाहते हैं; परंतु उनमेंसे थोड़े-से ही ऐसे लोग होते हैं, जो रथपर चढ़कर चलते हैं। कितने ही पुरुष स्त्रीरहित हैं और सैकड़ों मनुष्य कई स्त्रियोंवाले हैं ॥ ४२ ॥

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु गच्छन्त्येकैकशो नराः ।

इदमन्यत् पदं पश्य मात्र मोहं करिष्यसि ॥ ४३ ॥

सभी प्राणी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें रम रहे हैं। मनुष्य उनमेंसे एक-एकका अनुभव करते हैं अर्थात् किसीको सुखका अनुभव होता है, किसीको दुःखका। यह जो ब्रह्म नामक वस्तु है, इसे सबसे भिन्न एवं विलक्षण समझो। इसके विषयमें तुम्हें मोहग्रस्त नहीं होना चाहिये ॥ ४३ ॥

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ ४४ ॥

धर्म और अधर्मको छोड़ो। सत्य और असत्य दोनोंका त्याग करो। सत्य और असत्य दोनोंका त्याग करके जिससे त्याग करते हो, उस अहंकारको भी त्याग दो ॥ ४४ ॥

एतत् ते परमं गुह्यमाख्यातमृषिसत्तम ।

येन देवाः परित्यज्य मर्त्यलोकं दिवं गताः ॥ ४५ ॥

मुनिश्रेष्ठ! यह मैंने तुमसे परम गूढ़ बात बतलायी है, जिससे

देवतालोग मर्त्यलोक छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ४५ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः परमबुद्धिमान् ।

सञ्चिन्त्य मनसा धीरो निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ ४६ ॥

नारदजीकी बात सुनकर परम बुद्धिमान् और धीरचित्त शुकदेवजीने मन-ही-मन बहुत विचार किया; किंतु सहसा वे किसी निश्चयपर न पहुँच सके ॥ ४६ ॥

पुत्रदारैर्महान् क्लेशो विद्याम्नाये महाञ्छ्रमः ।

किं नु स्याच्छाश्वतं स्थानमल्पक्लेशं महोदयम् ॥ ४७ ॥

वे सोचने लगे, स्त्री-पुत्रोंके झमेलेमें पड़नेसे महान् क्लेश होगा। विद्याभ्यासमें भी बहुत अधिक परिश्रम है। कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे सनातन पद प्राप्त हो जाय। उस साधनमें क्लेश तो थोड़ा हो, किन्तु अभ्युदय महान् हो ॥ ४७ ॥

ततो मुहूर्तं सञ्चिन्त्य निश्चितां गतिमात्मनः ।

परावरज्ञो धर्मस्य परां नैःश्रेयसीं गतिम् ॥ ४८ ॥

तदनन्तर उन्होंने दो घड़ीतक अपनी निश्चित गतिके विषयमें विचार किया; फिर भूत और भविष्यके ज्ञाता शुकदेवजीको अपने धर्मकी कल्याणमयी परम गतिका निश्चय हो गया ॥ ४८ ॥

कथं त्वहमसंश्लिष्टो गच्छेयं गतिमुत्तमाम् ।

नावर्तेयं यथा भूयो योनिस्ङ्करसागरे ॥ ४९ ॥

फिर वे सोचने लगे, मैं सब प्रकारकी उपाधियोंसे मुक्त होकर किस प्रकार उस उत्तम गतिको प्राप्त करूँ, जहाँसे फिर इस संसार-सागरमें आना न पड़े ॥ ४९ ॥

परं भावं हि काङ्क्षामि यत्र नावर्तते पुनः ।

सर्वसङ्गान् परित्यज्य निश्चितो मनसा गतिम् ॥ ५० ॥

जहाँ जानेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती, मैं उसी परमभावको प्राप्त करना चाहता हूँ। सब प्रकारकी आसक्तियोंका परित्याग करके

मैंने मनके द्वारा उत्तम गति प्राप्त करनेका निश्चय किया है ॥ ५० ॥

तत्र यास्यामि यत्रात्मा शमं मेऽधिगमिष्यति ।

अक्षयश्चाव्ययश्चैव यत्र स्थास्यामि शाश्वतः ॥ ५१ ॥

अब मैं वहीं जाऊँगा, जहाँ मेरे आत्माको शान्ति मिलेगी तथा जहाँ मैं अक्षय, अविनाशी और सनातनरूपसे स्थित रहूँगा ॥ ५१ ॥

न तु योगमृते शक्या प्राप्तुं सा परमा गतिः ।

अवबन्धो हि बुद्धस्य कर्मभिर्नोपपद्यते ॥ ५२ ॥

परंतु योगके बिना उस परम गतिको नहीं प्राप्त किया जा सकता । बुद्धिमान्का कर्मोंके निकृष्ट बन्धनसे बँधा रहना उचित नहीं है ॥ ५२ ॥

तस्माद् योगं समास्थाय त्यक्त्वा गृहकलेवरम् ।

वायुभूतः प्रवेक्ष्यामि तेजोराशिं दिवाकरम् ॥ ५३ ॥

अतः मैं योगका आश्रय ले इस देह-गेहका परित्याग करके वायुरूप हो तेजोराशिमय सूर्यमण्डलमें प्रवेश करूँगा ॥ ५३ ॥

न ह्येष क्षयतां याति सोमः सुरगणैर्यथा ।

कम्पितः पतते भूमिं पुनश्चैवाधिरोहति ॥ ५४ ॥

देवतालोग चन्द्रमाका अमृत पीकर जिस प्रकार उसे क्षीण कर देते हैं, उस प्रकार सूर्यदेवका क्षय नहीं होता । धूममार्गसे चन्द्रमण्डलमें गया हुआ जीव कर्मभोग समाप्त होनेपर कम्पित हो फिर इस पृथ्वीपर गिर पड़ता है । इसी प्रकार नूतन कर्मफल भोगनेके लिये वह पुनः चन्द्रलोकमें जाता है (सारांश यह कि चन्द्रलोकमें जानेवालेको आवागमनसे छुटकारा नहीं मिलता है) ॥ ५४ ॥

क्षीयते हि सदा सोमः पुनश्चैवाभिपूर्यते ।

नेच्छाम्येवं विदित्वैते ह्रासवृद्धी पुनः पुनः ॥ ५५ ॥

इसके सिवा चन्द्रमा सदा घटता-बढ़ता रहता है । उसकी ह्रास-वृद्धिका क्रम कभी टूटता नहीं है । इन सब बातोंको जानकर मुझे चन्द्र-लोकमें जाने या ह्रास-वृद्धिके चक्करमें पड़नेकी इच्छा नहीं होती है ॥ ५५ ॥

रविस्तु सन्तापयते लोकान् रश्मिभिरुल्बणैः ।

सर्वतस्तेज आदत्ते नित्यमक्षयमण्डलः ॥ ५६ ॥

सूर्यदेव अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समस्त जगत्को सन्तप्त करते हैं। वे सब जगहसे तेजको स्वयं ग्रहण करते हैं (उनके तेजका कभी ह्रास नहीं होता); इसलिये उनका मण्डल सदा अक्षय बना रहता है ॥ ५६ ॥

अतो मे रोचते गन्तुमादित्यं दीप्ततेजसम् ।

अत्र वत्स्यामि दुर्धर्षो निःशङ्केनान्तरात्मना ॥ ५७ ॥

अतः उद्दीप्त तेजवाले आदित्यमण्डलमें जाना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है। इसमें मैं निर्भीकचित्त होकर निवास करूँगा। किसीके लिये भी मेरा पराभव करना कठिन होगा ॥ ५७ ॥

सूर्यस्य सदने चाहं निक्षिप्येदं कलेवरम् ।

ऋषिभिः सह यास्यामि सौरं तेजोऽतिदुःसहम् ॥ ५८ ॥

इस शरीरको सूर्यलोकमें छोड़कर मैं ऋषियोंके साथ सूर्यदेवके अत्यन्त दुःसह तेजमें प्रवेश कर जाऊँगा ॥ ५८ ॥

आपृच्छामि नगान् नागान् गिरिमुर्वीं दिशो दिवम् ।

देवदानवगन्धर्वान् पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ५९ ॥

इसके लिये मैं नग-नाग, पर्वत, पृथ्वी, दिशा, द्युलोक, देव, दानव, गन्धर्व, पिशाच, सर्प और राक्षसोंसे आज्ञा माँगता हूँ ॥ ५९ ॥

लोकेषु सर्वभूतानि प्रवेक्ष्यामि न संशयः ।

पश्यन्तु योगवीर्यं मे सर्वे देवाः सहर्षिभिः ॥ ६० ॥

आज मैं निःसन्देह जगत्के सम्पूर्ण भूतोंमें प्रवेश करूँगा। समस्त देवता और ऋषि मेरी योगशक्तिका प्रभाव देखें ॥ ६० ॥

अथानुज्ञाप्य तमृषिं नारदं लोकविश्रुतम् ।

तस्मादनुज्ञां सम्प्राप्य जगाम पितरं प्रति ॥ ६१ ॥

ऐसा निश्चय करके शुकदेवजीने विश्वविख्यात देवर्षि नारदजीसे आज्ञा माँगी। उनसे आज्ञा लेकर वे अपने पिता व्यासजीके पास गये ॥ ६१ ॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं मुनिम् ।
शुकः प्रदक्षिणं कृत्वा कृष्णमापृष्टवान् मुनिम् ॥ ६२ ॥

वहाँ अपने पिता महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिको प्रणाम करके
शुकदेवजीने उनकी प्रदक्षिणा की और उनसे जानेके लिये आज्ञा
माँगी ॥ ६२ ॥

श्रुत्वा चर्षिस्तद् वचनं शुकस्य
प्रीतो महात्मा पुनराह चैनम् ।
भो भो पुत्र स्थीयतां तावदद्य
यावच्चक्षुः प्रीणयामि त्वदर्थे ॥ ६३ ॥

शुकदेवकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए महात्मा व्यासने
उनसे कहा—‘बेटा! बेटा! आज यहीं रहो, जिससे तुम्हें जी-भर
निहारकर अपने नेत्रोंको तृप्त कर लूँ’ ॥ ६३ ॥

निरपेक्षः शुको भूत्वा निःस्नेहो मुक्तसंशयः ।
मोक्षमेवानुसञ्चिन्त्य गमनाय मनो दधे ॥ ६४ ॥

परंतु शुकदेवजी स्नेहका बन्धन तोड़कर निरपेक्ष हो गये थे । तत्त्वके
विषयमें उन्हें कोई संशय नहीं रह गया था; अतः बारम्बार मोक्षका ही
चिन्तन करते हुए उन्होंने वहाँसे जानेका ही विचार किया ॥ ६४ ॥

पितरं सम्परित्यज्य जगाम मुनिसत्तमः ।
कैलासपृष्ठं विपुलं सिद्धसङ्घनिषेवितम् ॥ ६५ ॥

पिताको वहीं छोड़कर मुनिश्रेष्ठ शुकदेव सिद्ध-समुदायसे सेवित
विशाल कैलासशिखरपर चले गये ॥ ६५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारदगीतायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

